पुनरुत्थान युग का द्रष्टा
महर्षि दयानन्द सरस्वती

स्व. डॉ. रघुवंश

*[कीर्तिशेष **डॉ. रघुवंश** हिन्दी जगत के जाने-माने विद्वान थे। वे हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी के परिपक्व ज्ञाता तो थे ही, भारत की शास्त्रीयता और उसके इतिहास के अनुशीलन में भी उनकी विपुल रुचि और गति थी। उन्होंने साहित्य के विभिन्न पक्षों पर साहित्य-सर्जन कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष और समर्थ लेखक के रूप में वे सर्वमान्य रहे। अपने अग्रज श्रीमान् **यदुवंश सहाय** द्वारा रचित **'महर्षि दयानन्द'** नामक ग्रन्थ की भूमिका-रूप में लिखे गए उनके इस लेख से हमारे ऋषिभक्त पाठक लाभान्वित हों, अतः इसे हम उक्त ग्रन्थ से साभार प्रस्तुत कर रहे हैं।]*

*****

भारतीय पुनरुत्थान का आधुनिक युग उन्नीसवीं शती के दूसरे चरण से शुरू हुआ। इस युग का सही चित्र प्रस्तुत करते समय इस तथ्य को ठीक परिप्रेक्ष्य में सदा रखना होगा कि इस युग के मानस में पश्चिम का गहरा प्रभाव-संघात रहा है और पश्चिमी संस्कृति का सजग प्रयत्न रहा है कि यह मानस उससे अभिभूत रहे। पश्चिमी आधुनिक संस्कृति अन्य समस्त संस्कृतियों से इस माने में भिन्न है कि वह जागरूक और आत्मालोचन करने में समर्थ है। उसके इतिहास-बोध ने उसे अपने विस्तार, आरोप और संरक्षण का अधिक सामर्थ्य दिया है। उसकी वैज्ञानिक प्रगति ने अपनी शक्ति-विस्तार की उसे अपूर्व क्षमता प्रदान की है। अनेक मानवीय शास्त्रों के वैज्ञानिक विकास में उसने अपना प्रभाव-क्षेत्र अनेक स्तरों और आयामों में फैला लिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी संस्कृति से पिछली पुरानी संस्कृति और परम्परा वाले एशिया के राष्ट्रों और आदि (मैं *आदिम* कहना अनुचित मानता हूँ) संस्कृति वाले अफ्रीकी और अमरीकी समाजों और देशों को राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रभावों में अपने उपनिवेश बने रहने के लिए विवश कर दिया है।

पुनरुत्थान युग से शुरू होकर स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद तक के भारतीय मानस पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ इस समस्या का विस्तृत विवेचन-विश्लेषण करने के बजाय केवल ऐसे कुछ तथ्यों की और ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। भारतीय बौद्धिक वर्ग का बहुत बड़ा हिस्सा यह मानता है कि भारत, वस्तुतः समस्त एशियाई देशों का आधुनिकीकरण तभी

संभव हो सका है, जब यूरोप के देशों ने वहाँ उपनिवेश बनाये और वहाँ के निवासियों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का अवसर प्रदान किया। भारत की राष्ट्रीय इकाई की परिकल्पना अंग्रेजी राज्य की देन है। भारतीय संस्कृति, वस्तुतः समस्त एशियाई संस्कृतियाँ पिछड़ी हुई, मध्ययुगीन, प्रगति की सभावनाओं से शून्य, अन्धविश्वास और जड़ताओं से ग्रस्त हैं। इनके उद्धार का एक मात्र उपाय है कि ये पश्चिमी संस्कृति को अपना लें। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पश्चिमी संस्कृति संसार की समस्त संस्कृतियों में श्रेष्ठ है; अन्य संस्कृतियाँ अपनी कमियों और कमजोरियों के कारण ह्रासोन्मुखी हुई और अन्ततः विनष्ट हो गई हैं, लेकिन पश्चिम की आधुनिक संस्कृति सबसे श्रेष्ठ और निरन्तर विकासशील है। इस प्रकार के चिन्तन को अग्रसर करने का पश्चिम के समस्त बौद्धिक वर्ग ने और उनके तथाकथित वैज्ञानिक तथा तटस्थ अध्ययनों ने निरन्तर प्रयत्न किया है। ऐसे पश्चिमी विद्वान् अपवाद ही माने जायँगे, जिन्होंने पश्चिमी संस्कृति की इस श्रेष्ठता और अन्य संस्कृतियों की हीनता के विचार को चुनौती दी हो। और मजे की बात है कि मानसिक रूप से पश्चिम के गुलाम भारत के बौद्धिक उनके विचारों को प्रामाणिकता तो नहीं देते, पर उनके आधार पर पश्चिमी संस्कृति की महनीयता का समर्थन अवश्य करते हैं।

भारत में अंग्रेजों के प्रभुत्व काल में प्रारम्भ से यह प्रयत्न रहा है कि राजसत्ता के क्रमशः बढ़ते हुए विस्तार के साथ इस देश के परंपरित सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। इस प्रकार अंग्रेजी राजनीति और राजनय का सारा दृष्टिकोण यह रहा है कि यहाँ की पिछली संस्थाओं, व्यवस्थाओं और परंपराओं को नष्ट कर देश की समस्त आन्तरिक शक्ति, आस्था तथा विश्वास को तोड़कर उसे नैतिक मेरुदण्ड-विहीन बना दिया जाय। भारतीय जन-समाज को उसके स्वीकृत आधार से उन्मूलित कर, ग्राम-समाज और पंचायतों के ढाँचों को विशृंखल कर, धार्मिक आस्थाओं को खण्डित कर तथा उद्योग-धन्धों और व्यापार को विनष्ट कर अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान की दीक्षा देकर भारतीय मानस को यूरोपीय संस्कृति की महत्ता से इस प्रकार अभिभूत कर दिया कि अधिकांश शिक्षित वर्ग अपने देश के धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति हीन भावना से भर गया। इसका सबसे घातक परिणाम यह हुआ कि पुनरुत्थान युग के प्रारंभ से उन्नति और विकसित होने के लिए पश्चिमीकरण पर बल दिया जाने लगा। यह

पश्चिमीकरण अधिकांशतः अनुकरणमूलक ही रहा। कोई भी आरोप अनुकरण-मूलक ही हो सकता है।

यह अवश्य हुआ कि अंग्रेजी राजनीति के परिणामस्वरूप भारत में उनके उपनिवेश की जड़ें काफी गहरी और मजबूत रहीं और इस प्रक्रिया में अर्थात् पश्चिमीकरण के दौरान भारत मध्ययुगीन संस्कारों तथा मनोवृत्तियों से अपने को मुक्त कर आधुनिक बन सका। यह बात संस्कारगत और परिवेशगत पक्षपात के कारण मार्क्स तथा ट्वायनबी जैसे यूरोपीय विचारकों ने भी कही है, अन्यों की तो बात अलग है। पश्चिम के मानस-पुत्र भारतीय तो यह राग अलापते कभी थकते नहीं। बुद्धदेव जैसे सुपुत्र तो कृतज्ञ भाव से यह मानकर अपना सन्तोष प्रकट करते हैं कि यह तो स्वाभाविक है, क्योंकि हम भारतीय यूरोप के ही आगत प्रवासी हैं। निश्चय ही यह हीन-भाव की उपज है। इस प्रसंग का अधिक विवेचन यहाँ नहीं करना चाहूँगा, क्योंकि अन्यत्र किया गया है, पर सिद्धान्त रूप में कहा जा सकता है कि गुलामी की हीन-भावना से कोई व्यक्ति या राष्ट्र अपने निजी व्यक्तित्व के विकास की दिशा नहीं पा सकता है, क्योंकि व्यक्तित्व की स्वाधीनता तथा निजता का अनुभव विकास की पहली शर्त है। इसी प्रकार कोई भी प्राचीन संस्कृत समाज अपनी जड़ता और अवरुद्धता में भी अपने निजी व्यक्तित्व की खोज बिना किये आगे बढ़ने में समर्थ नहीं हो सकता। अन्ततः यही सही है कि अनुकरण किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र को न गौरव प्रदान कर सकता है और न मौलिक सर्जनशीलता का मार्ग ही प्रशस्त कर सकता है, जिसके बिना किसी प्रकार की प्रगति संभव नहीं है। साथ ही दृष्टान्त रूप में जापान का उल्लेख करके कहा जा सकता है कि एशिया के सर्वाधिक उन्नत राष्ट्र जापान को न किसी यूरोपीय शक्ति के उपनिवेश होने का सौभाग्य मिला और न किसी विदेशी भाषा के सहारे वहाँ ज्ञान-विज्ञान फैलाने का सुयोग हुआ।

पश्चिमी संस्कृति के रंग में रँगे हुए बौद्धिकों ने एक मिथ रचा है कि भारतीय जागरण अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के प्रचार-प्रसार से ही संभव हुआ। पुनरुत्थान का नेतृत्व अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त महापुरुषों ने ही किया है। इस मिथ में तथ्यात्मक आधार जरूर है, पर यह सत्य नहीं है। यह संयोग था और इस संयोग के पीछे पश्चिमी उपनिवेशवाद की सारी विभीषिका थी कि पश्चिम के सपर्क में भारत अंग्रेजों और अंग्रेजी के माध्यम से आया तथा यह भी संयोग

इसी से संभव हुआ कि भारत के इस नये पुनरुत्थान युग के नेता, **स्वामी दयानन्द** को छोड़कर, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पश्चिम, विशेषकर इंग्लैण्ड से परिचित हुए थे। उन्होंने यूरोप के आधुनिक मूल्यों- स्वतंत्रता, समता, प्रजातंत्र, समाजवाद, साम्यवाद आदि का परिचय अंग्रेजी शिक्षा के दौरान प्राप्त किया था। यहाँ तक कि उन्होंने अपने देश की परपरा, इतिहास, धर्म-दर्शन, समाज और संस्कृति के बारे में क्रमशः अंग्रेज लेखकों और अंग्रेजी के माध्यम से जाना। इस बात का उल्लेख पश्चिमी लेखकों के साथ हमारे भारतीय लेखक भी बड़े गौरव के साथ करते हैं। परन्तु यह सत्य वे नजर अन्दाज कर जाते हैं, सभवतः दृष्टिभ्रम के कारण उन्हें सही दिखाई ही नहीं पड़ता कि जिस चश्मे से वे पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता को देख रहे हैं, उससे उसका गौरवशाली और भव्य रूप सामने उभरता है, और जिस चश्मे से वे अपने देश को और उसकी संस्कृति को देखते हैं, उससे उसका बौना, कुरूप, विकृत रूप सामने आता है। परिणाम होता है कि इस वर्ग का मानस हीन-भाव से भरा हुआ है।

परन्तु **यदि स्वामी दयानन्द को ही लिया जाय तो वे अकेले होकर भी अपवाद नहीं है, वरन् एक प्रतीक हैं। और इस एक प्रतीक के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत के (एशिया को भी लिया जा सकता है) पुनरुत्थान के लिए न अंग्रेजी राज्य की अपेक्षा थी और न अंग्रेजी शिक्षा की। उसके लिए एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, जो सबसे पहले अपनी अन्तर्दृष्टि से अपने देश, समाज, जाति तथा राष्ट्र के व्यापक और सामूहिक जीवन की जड़ता, विडंबना, गतिरुद्धता, उसके अन्याय और शोषण की गहराई देख सके, उनके कारणों की ऐतिहासिक, यथार्थ तथा सांस्कृतिक खोज करने में समर्थ हो सके और अन्ततः अपनी विवेक दृष्टि से गतिरोध को दूर करके समाज को मौलिक सर्जनशीलता से संचालित-प्रेरित करने में समर्थ हो सके।** यह अवश्य है कि उसके लिए किसी न किसी प्रकार या स्तर का पश्चिमी आधुनिक संस्कृति के वातावरण का संस्पर्श सहायक था। इसी वातावरण में दयानन्द ने जन्म लिया था, यद्यपि यह भी नहीं कहा जा सकता कि अपनी पैंतीस-चालीस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने वस्तुतः इस वातावरण का भी एहसास पाया था।

दयानन्द का जन्म गुजरात के **टंकारा** नामक नगर में सन् 1824 ई. में हुआ। यह वही समय है, जब बंगाल में राजा राममोहन राय भारतीय पुनरुत्थान में संलग्न थे। वे पश्चिमी संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित और अंग्रेजी शिक्षा के समर्थक

थे। उनके सामने देश का जो रूप था, वह अंग्रेजी राजनीति और राजनय के द्वारा सत्ता-संघर्ष में राजनीतिक तथा सांस्कृतिक औपनिवेशिक महत्त्वाकांक्षा को प्रतिफलित करने वाला रूप था। निश्चय ही भारतीय समाज की अनेक जड़ताएँ, विकृतियाँ और नृशंस रीतियाँ उनके सामने थीं, परन्तु उनको देखने, समझने और व्यापक सन्दर्भों से जोड़कर लंबी भारतीय संस्कृति की परपरा में उनके कारणों के विश्लेषण-विवेचन की दृष्टि उनके पास नहीं थी। और उसका कारण था कि बंगाल और कलकत्ता में अंग्रेज पश्चिमी सभ्यता का चमत्कारी प्रभाव डालने में समर्थ हो चुके थे और पढ़े-लिखे वर्ग के मानस को अपने ढंग से सोचने-समझने के लिए प्रेरित कर सके थे। उनकी नीति के अनुसार भारतीय शिक्षित वर्ग जितना प्रबुद्ध होता जा रहा था, उसका मानस पश्चिमी संस्कृति (प्रायः *अंग्रेजी* मानना चाहिए) से अभिभूत हो रहा था, अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति को अपनाने की उसकी आकांक्षा बढ़ती जा रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि अपने देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति हमारे बौद्धिक वर्ग में हीन-भाव उत्पन्न हुआ। हमारे अधिकांश बड़े नेताओं में भी एक स्तर पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है, जो उनकी इस कामना में परिलक्षित हुआ है कि भारतीय समाज का नवनिर्माण पश्चिमीकरण के रूप में होना चाहिए। उनमें अपनेपन की गौरव-भावना की चेतना प्राचीन भारतीय संस्कृति के धर्म, दर्शन, अध्यात्म के कुछ प्रतीकों से सन्तोष ग्रहण करती रही है। इनकी अपेक्षा **दयानन्द जिस पारिवारिक वातावरण में पले, सामाजिक वातावरण में बढ़े और उन्होंने जिस प्रकार की शुद्ध परंपरित संस्कृत शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की, उनमें उनका पश्चिमीकरण से कोई सपर्क नहीं था, अतः उन पर पश्चिमी संस्कृति का सीधा कोई भी प्रभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता।**

दयानन्द राजा राममोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक ऐसे भारतीय नेताओं से बिल्कुल अलग थे, जो अपनी समस्त सद्भावनाओं और देश-कल्याण की भावनाओं के बावजूद भारतीय आधुनिकीकरण का रास्ता हर प्रकार से पश्चिमीकरण से होकर गुजरता पाते रहे हैं। और उनके पीछे अधिसंख्यक भारतीय अंग्रेजी शिक्षित वर्ग रहा है, जो पश्चिमीकरण को पश्चिम के बाहरी या ऊपरी अनुकरण के स्तर पर स्वीकार कर अपने को **सभ्य** मानकर असंख्य भारतीय जनता को उपेक्षा और अवहेलना के भाव से देखता रहा है। यहाँ इस बात के विवेचन का अवसर नहीं है, पर उल्लेख करना जरूरी है कि

अंग्रेजी राजनीति के सही परिणाम के रूप में यह शिक्षित वर्ग अपने निहित स्वार्थों में संगठित होता गया है। स्वाधीनता के संघर्ष-काल में यह वर्ग अंग्रेजों के पक्ष में रह कर हर स्तर पर और हर प्रकार से भारतीय जनता की स्वाधीनता की महत्त्वाकांक्षाओं के विरुद्ध कार्य करता रहा है। और उससे भी बड़े दुर्भाग्य की बात यह रही है कि अपनी मानसिक संस्कारगत एकता के कारण जवाहरलाल नेहरू स्वाधीनता-युग में इस वर्ग के अघोषित नेता बन गये। आगे चलकर अपने नेतृत्व को सुदृढ़ बनाने के लिए नेहरू ने इस निहित स्वार्थ के वर्ग से समझौता कर लिया। अनुकरणमूलक पश्चिमीकरण को प्रगतिशीलता उद्घोषित करते रहकर नेहरू ने इस वर्ग का अपने उन प्रतिद्वंद्वियों के खिलाफ इस्तेमाल किया, जो मात्र पश्चिमीकरण के रूप में भारत के आधुनिकीकरण को स्वीकार नहीं करते रहे हैं। अन्ततः नेहरू और इस वर्ग का एक ही निहित स्वार्थ बन गया, क्योंकि नेहरू को उनसे शक्ति प्राप्त होती रही है। इस वर्ग के लोग ही क्रमशः भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में शक्ति और प्रभाव की जगह पाते गये और नेहरू की सत्ता की छत्रछाया में यह वर्ग अधिकाधिक संगठित और गतिमान् होता गया है।

पुनरुत्थान युग के नेताओं में दयानन्द का स्थान अप्रतिम है, पर उनको विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, मदनमोहन मालवीय और महात्मा गाँधी जैसे नेताओं का अग्रणी माना जा सकता है। इन नेताओं ने भारतीय समाज के पुनर्गठन, विकास और आधुनिकीकरण के लिए भारतीय संस्कृति के मूलाधार को आवश्यक माना है। उनके अनुसार पश्चिम से प्रेरणा पाना, पश्चिम से नया ज्ञान-विज्ञान सीखना एक बात है, पर उसका अन्धानुकरण न हमारे गौरव के अनुकूल है और न हमारी वास्तविक प्रगति के लिए ही उपयोगी है। यह अवश्य है कि इन नेताओं की पद्धति में भिन्नता रही है। कुछ नेता भारतीय प्राचीन गौरवशाली सांस्कृतिक परंपरा के पुनरुत्थान में भारतीय समाज के विकास की संभावना देखते रहे हैं, यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि पश्चिम से हमको ज्ञान-विज्ञान सीखना है। इस दृष्टि से दयानन्द और गाँधी को उनके साथ रखा जा सकता है, क्योंकि **दयानन्द ने यह स्वीकार किया है कि भारतीय पुनरुत्थान और आधुनिकीकरण भारत की प्राचीन वैदिक संस्कृति के आधार पर ही संभव है** और गाँधी ने माना है कि हमारे सम्पूर्ण विकास की सभावनाएँ भारतीय व्यक्तित्व की खोज के आधार पर ही संयोजित की जा सकती हैं। एक

स्तर पर ये दो व्यक्तित्व समान माने जा सकते हैं। इन दोनों ने भारतीय जन-समाज से गहरा और आन्तरिक तादात्म्य स्थापित किया था। उन्होंने भारतीय जीवन को उसके वर्तमान यथार्थ तथ्य में और सपूर्ण ऐतिहासिक सांस्कृतिक परंपरा में आत्म-साक्षात्कार के स्तर पर ग्रहण किया था, परन्तु दयानन्द और गाँधी के युग, परिवेश, शिक्षा और संस्कार में अन्तर रहा है, और उसके कारण इन दोनों के आत्म-साक्षात्कार की प्रकृति में अन्तर पड़ गया है।

गाँधी भारतीय रंगमंच पर उस समय अवतरित हुए जब दयानन्द के द्वारा उठाये हुए भारतीय समाज के सारे सवाल पूरी तरह शिक्षित समाज में चर्चा के विषय बन चुके थे। अनेक दिशाओं में उसका मानस आन्दोलित हो चुका था, उसमें आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास का भाव जा चुका था। गाँधी के समय तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत में राजनीतिक आन्दोलन का स्वरूप अधिक स्पष्टता के साथ उभर आया था, अतः गाँधी ने भारतीय समाज के पुनर्गठन और नवीकरण के प्रश्न को राजनीतिक स्वाधीनता के साथ जोड़ दिया। उनको यह लगना स्वाभाविक था कि पूर्ण स्वाधीनता पा लेने के बाद सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक ढंग से भारतीय जीवन को एक नया संरचात्मक रूप प्रदान करना सम्भव होगा। गाँधी की स्थिति इस दृष्टि से भी विशिष्ट थी कि उनको पश्चिम की संस्कृति का गहरा परिचय था। दयानन्द को भी अन्ततः भारतीय जीवन के पुनर्गठन में पश्चिम की सांस्कृतिक चुनौती का सामना करना पड़ा था, पर उन्होंने उसका समुचित समाधान पश्चिमी संस्कृति के अन्तर्वर्ती तत्त्वों के माध्यम से प्रस्तुत नहीं किया, जैसी सुविधा गाँधी को प्राप्त थी। वस्तुतः किसी सशक्त और गतिशील संस्कृति के संघात को सहने का सबसे दक्ष उपाय भी यही है कि गाँधी के समान उस संस्कृति के सबल तत्त्वों का विकास अपनी भूमिका पर करके उसका सामना किया जाय। दयानन्द के सामने चुनौती थी, पर उसकी शक्ति का और उसके सामर्थ्य के स्रोत का उन्हें ठीक अन्दाज नहीं था, अतः उनके पास उस चुनौती का सामना करने के लिए अपनी ही सांस्कृतिक परपरा में अन्तर्निहित शक्ति और ऊर्जा के अनुसन्धान के अलावा कोई उपाय नहीं था।

विवेकानन्द ने, और बहुत कुछ गाँधी ने भी यह माना है कि भारतीय संस्कृति का स्वर आध्यात्मिक है। भारतीय जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक मान मिला है। विवेकानन्द के अनुसार यदि भारत को पश्चिम के

विज्ञान और प्रविधि की आवश्यकता है तो पश्चिम को अपने सन्तुलित विकास के लिए भारतीय आध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा है। और गाँधी के अनुसार भारत को नई समाज-रचना के लिए अपनी आध्यात्मिक मूल्यों की नई वैज्ञानिक उद्भावना द्वारा समस्त आधुनिक समाजतंत्र, राजतंत्र और अर्थतंत्र के मूल्यों को नया रूप प्रदान करना है। ये मूल्य भारतीय समाज-रचना का आधुनिकीकरण करने में सहायक होंगे और यह नया समाज व्यक्ति को समत्व और स्वाधीनता का वास्तविक मूल्य-बोध प्रदान करेगा। साथ ही पश्चिमी संस्कृति उन मूल्यों के आधार पर अपने संकट और संत्रास से मुक्त होकर नये भविष्य की संभावना से प्रेरित हो सकेगी। यहाँ ध्यान देने की बात है कि विवेकानन्द ने भारतीय अध्यात्म के **अद्वैत तत्त्व** पर बल दिया है और गाँधी ने **वैष्णव भावना** को महत्त्व प्रदान किया है। ये दोनों तत्त्व भारतीय दर्शन, साधना और अध्यात्म के उच्चतम स्वरूप का परिचय दे सकते हैं, परन्तु सपूर्ण भारतीय मानस को इन तत्त्वों ने एकांगी और लोक निरपेक्ष भी बनाया है। **इनके आधार पर व्यक्ति साधना की उच्चतम भूमिओं में भले ही प्रवेश करता हो, परलौकिक जीवन के विकास और समृद्धि के लिए अपेक्षित चरित्र-बल और आत्म-विश्वास उनसे जनता को प्राप्त नहीं हो सका।** अधिक से अधिक सामाजिक जीवन के आचार तथा नैतिकता को आध्यात्मिक जीवन की अपेक्षा में महत्त्व मिला, परन्तु जब आत्मा और ब्रह्म में अभेद प्रतिपादित किया जाता हो, अथवा भक्त को सपूर्णतः अपने समस्त कर्मों को अपने प्रभु के प्रति समर्पण करना है, ऐसी स्थिति में समस्त सामाजिक दायित्व असंगत हो जाते हैं। यह अवश्य है कि विवेकानन्द और गाँधी दोनों ने इन आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्यामें समाज-सेवा, परस्पर प्रेम और सहयोग आदि को स्थान दिया है, परन्तु जिस परम्परा से इन तत्त्वों का गहरा सबन्ध रहा है, इन तत्त्वों की स्वीकृति के साथ उस परम्परा की स्थापना तथा स्वीकृति ही अधिक हो सकी, समाज-सेवा, लोक-कल्याण, प्रेम-सहयोग आदि अधिकाधिक गौण होते गये हैं। आज के अवसरवादी समाज में भजन-कीर्तन और योग आदि की जितनी प्रतिष्ठा बढ़ी, प्रेम-सेवा आदि उतने ही उपेक्षणीय होते गये हैं।

इस दृष्टि से दयानन्द का भारतीय समाज का ज्ञान अधिक गहरा था और उनका भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का अध्ययन अधिक पूर्ण माना जा सकता है। **दयानन्द में प्रखर प्रतिभा और गहरी अन्तर्दृष्टि थी। साथ ही उनमें मानवीय**

संवेदना की बहुत व्यापक और आन्तरिक क्षमता थी, इसलिए घर से बाहर निकलने के बाद लगभग चौबीस वर्ष उन्होंने देश के स्थान-स्थान पर घूमने में बिताये और सारे भारतीय जन-समाज का बहुत व्यापक अनुभव प्राप्त किया। अपनी सूक्ष्म संवेदना के कारण ही उनको भारतीय समाज के जीवन का यथार्थ ज्ञान हो सका। भारतीय जन-समाज की विकृत, कुंठित, जड़ित और गतिरुद्ध स्थिति को देखकर उनका मन पीड़ा, दुःख और करुणा से अभिभूत हो गया। यह एक ऐतिहासिक संयोग ही कहा जायगा कि गौतम संसार के कष्ट, पीड़ा, दुःख-दर्द और जरा-मरण को देखकर इनसे मुक्त होने के उपाय की खोज में घर से निकले और बुद्ध ने अन्ततः पाया व्यक्ति के निर्वाण का मार्ग। पर मूलशंकर घर से निकले थे, संसार के बन्धनों से मुक्त होकर शुद्धस्वरूप शिव की खोज में और दयानन्द को मिला दुःखी, संतप्त व हीन-भाव से ग्रस्त, अनेक कुरीतियों, पाखण्डों और दुराचारों से पीड़ित, कुंठित, गतिरुद्ध भारतीय समाज। और फिर वे व्यक्तिगत मोक्ष के मार्ग को भूलकर अपने समाज के उद्धार में प्राण-पण से लग गये। न कोई गौतम बुद्ध को अपने मार्ग से विचलित कर सका और न स्वामी दयानन्द को ही कर सकता था।

दयानन्द की संवेदन-क्षमता के समान उनकी विवेक-बुद्धि बहुत प्रखर थी। उन्होंने भारतीय समाज की यथार्थ स्थिति का जितना मार्मिक अनुभव प्राप्त किया, उतनी ही गहराई से उन्होंने इस समाज के अधःपतन के कारणों का विवेचन-विश्लेषण किया। भारतीय समाज की धारावाहिक परम्परा का बहुत सटीक विश्लेषण उन्होंने किया है और उसके द्वारा वे ठीक निदान भी कर सके हैं। स्मरणीय है दयानन्द स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने के लिए मथुरा जब पहुँचे तो उनकी अवस्था लगभग सैंतीस-अड़तीस वर्ष की थी। इस प्रकार चालीस वर्ष की अवस्था तक दयानन्द विभिन्न शास्त्रों, दार्शनिक सिद्धान्तों और आध्यात्मिक साधनाओं के अध्ययन और अभ्यास में लगे रहे थे। एक ओर उनको तत्कालीन भारतीय समाज की यथार्थ स्थिति का सही ज्ञान था, तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति का उन्होंने मन्थन भी किया था। स्वामी विरजानन्द ने आर्य ग्रन्थों और वैदिक संस्कृति की ओर उनका ध्यान आकर्षित करके उनको दिशा-निर्देश दिया था। **अपने परिभ्रमण काल में दयानन्द ने यह अनुभव किया था कि देश के समाज को अवरुद्ध करने वाला वर्ग पौराणिकों, पुरोहितों, साम्प्रदायिकों तथा महन्तों का है। यह इतना बड़ा निहित स्वार्थों का**

वर्ग बन गया है, जो अपनी शक्ति में बहुत व्यापक और समर्थ है। सामाजिक जीवन में जितने अन्धविश्वास, कुरीतियाँ, नृशंसताएँ और अन्याय फैले हुए हैं, उनके पीछे इसी वर्ग का समर्थन है। उन्होंने इस बीच भारतीय दर्शन, धर्म, अध्यात्म, आचार-शास्त्र और साधना का गहरा अध्ययन और अभ्यास किया था। इसके माध्यम से उन्हें भारतीय संस्कृति की मूलधारा की स्वच्छन्दता, गतिशीलता और मौलिकता की सही पहचान भी हुई। अपनी संस्कृति के उच्चतम मूल्यों के अनुभव और साक्षात्कार से उनके मन में यह प्रश्न बार-बार उमड़ता-घुमड़ता रहा कि इस महान संस्कृति के देश और समाज की पतनावस्था का कारण क्या है? जिस जाति ने जीवन के उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि की, व्यक्ति और समाज तथा व्यावहारिक और आध्यात्मिक जीवन के समन्वय तथा सामंजस्य की श्रेयस्कर भूमिकाएँ प्रस्तुत की हैं, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों की सुन्दर व्यवस्थाएँ दी हैं, उस जाति की ऐसी दीन-हीन अवस्था का कारण क्या है? ऐसे शक्तिशाली और समर्थ मानस की ऐसी कुंठित, गतिरुद्ध और विवेकहीन अवस्था क्यों हो गई है?

स्वामी विरजानन्द ने दयानन्द का ध्यान **अनार्ष ग्रन्थों** की ओर से हटाकर, **आर्ष ग्रन्थों** की ओर आकर्षित किया। उस प्रज्ञाचक्षु संन्यासी ने यह समझ लिया था कि वैदिक काल के बाद के ब्राह्मण और पुरोहित वर्ग ने स्वार्थवश और शक्ति की प्रतिद्वंद्विता में शुद्ध आर्ष ग्रन्थों की मनमानी टीकाएँ और व्याख्याएँ की हैं, अनेक समानान्तर ग्रन्थों की रचना की है। इन संहिताओं, स्मृतियों, उपनिषदों और पुराणों में अपने स्वार्थ-सिद्धि के नियमों और सिद्धान्तों का समाहार किया। किया ही नहीं, मनमाने ढंग से **आर्ष ग्रन्थों में प्रक्षेप** भी किये गये। इसलिए उन्होंने दयानन्द को विदा देते समय यही गुरु-दक्षिणा माँगी कि भारतीय संस्कृति के स्रोतों का आर्ष ग्रन्थों में अनुसन्धान करके भारतीय जन-समाज को पुनः एकत्रित और गतिशील करो। इस दिशा को पाकर **दयानन्द ने भारतीय समाज के पुनर्जागरण का जो मार्ग प्रशस्त किया है, और उसके लिए जिन सिद्धान्तों और मूल्यों की विवेचना की है, वे उनकी दिव्य-दृष्टि का परिचायक हैं। उन्होंने भारतीय समाज का यथार्थ साक्षात्कार किया, उसकी दीनावस्था के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक कारणों का वैज्ञानिक विवेचन किया और अपने युगीन-परिवेश के अनुकूल समाज की नई रचना के लिए मार्ग दिखाया। क्योंकि उन्होंने सपूर्ण भारतीय समाज से अपना तादात्य स्थापित किया था,**

इस समाज की पहचान उनकी सही थी। उन्होंने पूरी आत्मीय संवेदना के साथ अपने समाज की पीड़ा-व्यथा को ग्रहण किया था, अतः उनमें समाज के प्रति गहरा आन्तरिक भाव था, उसके उद्धार के लिए जीवन भर वे पूरी तन्मयता के साथ लगे रहे। दयानन्द ने बार-बार अनेक अवसरों पर घोषित किया है कि अपने समाज के उत्थान और सेवा-कार्य के सम्मुख, वे अपने निजी आत्मोद्धार और मोक्ष को कुछ भी महत्त्व नहीं देते। इस कार्य को वे अगले जन्मों के लिए स्थगित कर सकते हैं, पर उनका जीवन पूर्णतः अपने समाज के लिए उत्सर्ग है। उनका सपूर्ण जीवन और अन्त में मृत्यु भी इसका प्रमाण है। उनके सामने एकमात्र लक्ष्य था- भारतीय समाज का उत्थान, भारतीय मानस की मुक्ति।

स्वामी दयानन्द के सामने बड़ा सवाल था कि भारतीय संस्कृति के परस्पर विरोधी तत्त्वों का समाधान किस प्रकार हो? उन्होंने देखा कि एक ओर इस संस्कृति में मानव जीवन और समाज के उच्चतम मूल्यों की रचना शीलता परिलक्षित होती है, और दूसरी ओर उसमें मानवता विरोधी, समाज के शोषण को समर्थन देने वाले, अन्धविश्वासों का पोषण करनेवाले विचार भी पाये जाते हैं, अतः उनके मन को उद्वेलित करनेवाली बात थी कि हमारी सांस्कृतिक मूल्य-दृष्टि की प्रामाणिकता क्या है? कहा जा सकता है कि सत्य के लिए, मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रामाणिकता की आवश्यकता क्या है? गाँधी को अपने सत्य के लिए किसी धर्म-विशेष के ग्रन्थ की प्रामाणिकता की आवश्यकता नहीं हुई। यहाँ दो बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। दयानन्द के युग में पश्चिमी संस्कृति की बड़ी आक्रमक चुनौती थी। यूरोप में 19 वीं शती से विज्ञान और नये मानववाद के प्रभाव से मध्ययुगीन धर्म की उपेक्षा की जा रही थी, और मध्ययुगीन आस्था के स्थान पर बुद्धि और तर्क का आग्रह बढ़ा था, परन्तु भारत में यूरोप के मध्ययुगीन धर्म को विज्ञान और मानववाद के साथ **आधुनिक** कह कर रखा जा रहा था। धर्म को अपने प्रभाव को बढ़ाने और सत्ता को स्थायी बनाने में इस्तेमाल किया जा रहा था। अतः भारतीय संस्कृति की ओर से इस चुनौती को स्वीकार करने में भारतीय अध्यात्म के वैज्ञानिक तथा मानवतावादी स्वरूप की स्थापना आवश्यक थी। फिर भारतीय अध्यात्म को इस रूप में विवेचित करने के लिए आधार रूप प्रामाणिकता की अपेक्षा थी। **गाँधी को इस बात की सुविधा थी कि उनके पहले भारत के धर्म, अध्यात्म तथा संस्कृति के समन्वयात्मक रूप की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। दूसरे, दयानन्द को**

भारतीय परम्परा के जिन पुराणपंथियों, पुरोहितों और महन्तों का विरोध करना था, वे परम्परा की प्रामाणिकता की दुहाई देकर जनता के जीवन को पतन के गर्त में ढकेलते आये थे। भारतीय जनता प्रामाणिकता की अभ्यस्त बना दी गई थी, चाहे वे प्रमाण उसके लिए कोई अर्थ न रखते हों। इस निहित स्वार्थ के वर्ग के गढ़ को ध्वस्त करने के लिए दयानन्द भारतीय संस्कृति के स्रोत की खोज में प्रामाणिक आधार पाने के लिए बेचैन थे।

वे स्वयं इस बात का अनुभव कर रहे थे कि भारतीय समाज को इस अवस्था में पहुँचाने का कार्य यहाँ के ब्राह्मण, पुरोहित, पौराणिक तथा साम्प्रदायिक वर्ग ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए किया है। उन्होंने देखा कि यहाँ विभिन्न धर्म-संप्रदायों के कर्मकाण्ड, दार्शनिक मान्यताएँ, साधना-पद्धतियाँ अन्ततः साम्प्रदायिकों, गुरुओं, महन्तों के स्वार्थ-साधन में सहायक हैं। इस प्रकार मौलिक धर्म, दर्शन, अध्यात्म और साधना में जितना विकास परिलक्षित होता है, उसका उपयोग सामाजिक जीवन को अन्धविश्वासी, निष्क्रिय और जड़ बनाने के लिए ही हुआ है। अद्वैतवाद जैसे दार्शनिक सिद्धान्त चिन्तन के स्तर पर जैसे भी हों, पर वे जन-समाज के जीवन को कर्म, दायित्व, सेवा जैसे मूल्यों से निरपेक्ष करने वाले हैं। योग का मध्ययुगीन विकृत रूप इसी प्रकार जन समाज में अनेक गुह्य और रहस्य साधनाओं के प्रचार का कारण बना। ये साधना भ्रष्टाचार, अनैतिकता, असामाजिकता का कारण बन गईं। मध्ययुग की प्रेम-साधना और भक्ति ने सामाजिक जीवन को व्यक्तिगत भावावेश का विषय बना दिया। पौराणिक धर्म ने आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धियों को सरल बना दिया, सामाजिक कर्म और दायित्व को इस प्रकार गौण बना दिया गया। नाम लेने मात्र से पापियों का उद्धार हो जाता है, तीर्थ-व्रत-स्नान से मुक्ति मिलती है, मूर्ति-पूजन से ईश्वर-भक्ति होती है, आदि ऐसे सरल उपाय बताये गये, जिनके सामने ज्ञान-विवेक-कर्म की उपेक्षा की जाने लगी। इस प्रकार दयानन्द ने देखा कि मध्य-युग के पुराण-पंथियों ने व्यक्तिगत साधनाओं पर बल देकर सामाजिक जीवन को विशृंखल कर दिया है, व्यक्ति और समाज के सन्तुलन को बिगाड़ दिया है और ज्ञान-कर्म-भाव के सामंजस्य को नष्ट कर दिया है।

इसी ऊहापोह में दयानन्द ने समझ लिया कि वेद और वैदिक-साहित्य तथा अन्य आर्षग्रन्थों के प्रमाण के आधार पर इस समस्या का समाधान किया जा

सकता है। सामान्यतः भारतीय दर्शन, धर्म तथा अध्यात्म आदि से सबन्धित सभी सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय वेदों को प्रमाण मानते आये हैं। वेदों को प्रमाण मानने की परम्परा भारत में इस सीमा तक स्वीकृत रही है कि एक-दूसरे से विरोधी मत समान रूप से वेदों को प्रमाण मान कर चलते हैं। वेदों के प्रामाण्य की इतनी सुदृढ़ परम्परा के पीछे कोई न कोई तार्किक विवेक सम्मत आधार चाहिए। स्वामी विरजानन्द से वेदों के सच्चे अर्थ तक पहुँचने का दिशा-निर्देश मिल सका था। दयानन्द अपने विवेक से यह मानने को तैयार नहीं थे कि वेद, जिसका साधारण सहज अर्थ ही ज्ञान है, केवल मंत्र-शक्ति से अभिमंत्रित मन्त्रों के संकलन हैं। निश्चय ही सायण वेदों के बहुत बाद के भाष्यकार हैं, उनके समय तक वेदों के अध्ययन की परम्परा समाप्त हो चुकी थी। इसी प्रकार पश्चिमी दृष्टि से धर्मगाथा, नृतत्त्व और समाजशास्त्र आदि के आधार पर वेदों को धर्म और अभिव्यक्ति का प्रारम्भिक रूप मानना भी असंगत है। यह पश्चिमी चिन्तकों और शास्त्रों की अपनी सीमा है। **भारतीय ज्ञान की समर्थ परम्परा में वेदों की जो मान्यता और प्रामाणिकता रही है, उसको देखते हुए पश्चिमी विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत वेदों की व्याख्या बचकानी लगती है। दयानन्द के अनुसार वेद यदि ज्ञान के भण्डार हैं, अन्य दर्शनों के लिए तथा भारत के महान चिन्तकों के लिए प्रामाण्य हैं, ऋषियों और द्रष्टाओं के द्वारा उनके मन्त्रों का साक्षात्कार किया गया है, तो उनके मन्त्रों का संगत अर्थ होना चाहिए, उनकी अर्थ और भाव की व्यंजनाओं में ज्ञान, अनुभव और मूल्यों की श्रेष्ठ तथा उच्चतम भूमियाँ लक्षित होनी चाहिए। अरविन्द ने दयानन्द की वेद-सबन्धी दृष्टि पर विचार करते समय स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि वेदों की व्याख्या के बारे में उनका दृष्टिकोण ही मात्र सही दृष्टिकोण है, अन्यथा भारतीय परम्परा में वेदों की महिमा का आधार ही क्या है?**

स्वामी दयानन्द 'वेद' को ज्ञान मानते हैं, अतः उनका उद्घोष था कि यदि 'वेद' सत्य-ज्ञान के आदि स्रोत हैं, जैसा कि सभी भारतीय ज्ञान और शास्त्र की परम्पराएँ स्वीकार करती हैं, तो उनमें मानवीय ज्ञान का विवेक-संगत स्वरूप सुरक्षित है, जिसकी स्पष्ट और सुसम्बद्ध व्याख्या की जा सकती है। उनके अनुसार जो यह मानते हैं कि वेद के मन्त्रों का स्पष्ट अर्थ नहीं है, उनमें मन्त्र-शक्ति ही प्रमुख है, अथवा पशु-चारण-युगीन संस्कृति के गीत सुरक्षित हैं, उनके पास वेदों को अपौरुषेय कहने, सत्य-ज्ञान के मूलस्रोत मानने और भारतीय

ज्ञान और अध्यात्म के प्रामाण्य स्वीकार करने के लिए कोई आधार नहीं है। **उनके अनुसार सायण के द्वारा लगाये जानेवाले वेद-मन्त्रों के भाष्य अथवा पश्चिमी पद्धतियों से की जाने वाली इन मन्त्रों की व्याख्या के अनुसार जो अर्थ निकाला गया है, उसमें विरोधाभास, असंगतियाँ और क्लिष्ट कल्पनाएँ तो हैं ही, पर यदि उसको मानकर चला जाय तो वेदों को उच्चतम मानवीय ज्ञान और मूल्यों के स्रोत मानने की बात तो दूर रही, कोई और विवेकशील व्यक्ति उसकी ओर ध्यान देने की जरूरत भी नहीं समझेगा। साथ ही इस प्रकार के अर्थों से यह भी प्रमाणित होगा कि वेदों में मानवीय समाज के असंस्कृत अथवा अर्द्धसंस्कृत आदिम स्तर की अभिव्यक्ति है। पश्चिमी संस्कृति और उसके समर्थन में विकसित पश्चिमी चिन्तन के लिए यह व्याख्या अनुकूल हो सकती है, पर जिस भारतीय परम्परा ने सदा अपनी संस्कृति और ज्ञान का मूल-स्रोत वेदों को माना है, और जो वेदों के प्रामाण्य पर सर्वदा अत्यधिक बल देते हैं, वे इसका क्या समाधान दे सकेंगे?**

दयानन्द ने वेदों के प्रामाण्य पर ही यह घोषित किया कि जो हमारे विवेक को स्वीकार्य नहीं, उसके त्याग में हमको एक क्षण का विलम्ब नहीं करना चाहिए। यदि वेदों में ज्ञान के बदले अज्ञान है, मानवीय उच्च मूल्यों के बजाय घोर हिंसा-वृत्ति, भोगवाद और स्वार्थ की उपासना है, तो उनको अस्वीकार कर देना चाहिए। उनके प्रामाण्य से क्या प्रयोजन? पर उन्होंने गुरु के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलकर वेदों की व्याख्या के लिए **आर्ष व्याकरण ग्रन्थों** का मन्थन किया। उन्होंने निघण्टु, निरुक्त, अष्टाध्यायी और महाभाष्य जैसे व्याकरण ग्रन्थों के आश्रय से वेद-मन्त्रों की सुसंगत और व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत की। इस दृष्टि से गहन अध्ययन करने के बाद उन्होंने घोषित किया कि **वेद, वैदिक साहित्य और अन्य आर्ष ग्रन्थ ही प्रामाण्य हैं, उनमें सत्य-ज्ञान सुरक्षित है, उनमें भारतीय संस्कृति के उच्चतम मूल्य सुरक्षित हैं और ये मूल्य भारतीय समाज और व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षों को मौलिक सर्जनशीलता से गतिशील करने में सक्षम रहे हैं।** इन ग्रन्थों में कहीं कोई विरोधाभास नहीं है, असंगतियाँ नहीं हैं। आवश्यकता है कि वेदों का अर्थ साधारण लौकिक व्याकरणों की पद्धति से न लगाकर, निघण्टु तथा निरुक्त आदि की यौगिक पद्धति से लगाया जाय। दयानन्द ने स्वयं इस पद्धति का स्वरूप प्रतिपादित किया और अपने समय के समस्त विद्वानों का आह्वान किया कि वे उन से इस

सबन्ध में विचार-विनिमय करें। उनके तर्कों में बड़ा बल था, वे अकाट्य थे, उनकी पद्धति शास्त्रों के गहन-मन्थन पर आश्रित थी, उन्होंने अपना आधार शुद्ध विवेक माना था। यद्यपि उनकी बात को कोई काट नहीं सका और महर्षि अरविन्द के अनुसार उन्होंने वेदों के मूल अर्थ तक पहुँचने की एक सही पद्धति निरूपित की है, किन्तु पश्चिमी प्रभाव से आधुनिक शिक्षितों ने और अपने स्वार्थवश परम्परावादियों ने उनकी व्याख्या-पद्धति को अधिक गंभीरता से लेने का वातावरण नहीं बनने दिया। परन्तु आज भी उनके उठाये हुए प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है और वेदों के सत्य को उद्घाटित करने और ज्ञान को प्रकाशित करने की कोई अन्य एवं इतनी उपयुक्त पद्धति नहीं है।

स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज में व्याप्त निष्क्रियता, अन्धविश्वास और स्वार्थपरता के मूल में मध्ययुग के पुराण पंथ को माना है। यह धर्म पलायनवादी है। पलायनवादी मनोवृत्ति मनुष्य को आत्मकेन्द्रित, असामाजिक और स्वार्थपरायण बनाती है। दयानन्द के अनुसार वैदिक धर्म परम ब्रह्म परमेश्वर की उपासना का विधान है, परन्तु पुराणपंथियों ने उसके स्थान पर अनेकेश्वरवाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, देवी-देवताओं की पूजा और यहाँ तक कि अपदेवताओं तक की पूजा प्रचलित करके अपना स्वार्थ सिद्ध किया। वेद-समर्थित समाज में चार वर्णों की व्याख्या है, और यह व्यवस्था **कर्म के आधार** पर थी। इन वर्णों में ऊँच-नीच तथा छुआछूत का अन्तर नहीं था। ब्राह्मण को संम्मान उसकी त्याग और सेवावृत्ति के कारण प्राप्त था, क्योंकि वह निःस्वार्थ भाव से ज्ञान-साधना में लगा रहता था, समाज के नैतिक जीवन का संरक्षक था और समाज के अन्य अंगों में अपने विवेक से सन्तुलन बनाये रखता था, अतः उसे अन्यों का आदर भाव प्राप्त था। पौराणिकों ने वर्ण व्यवस्था को **जन्मना** स्वीकार करके घोर अनर्थ किया और समाज की सारी गत्यात्मक क्षमता को कुंठित कर दिया। उनमें ऊँच-नीच और छुआछूत का भाव भरकर मनुष्य मात्र की बराबरी की वैदिक भावना को नष्ट कर दिया। वेदों में तो प्राणी मात्र को नश्वर तथा संम्माननीय माना है। इस ऊँच-नीच के चक्र ने सारे समाज को सहस्रों जाति-पाँतियों में विभक्त कर छिन्न-भिन्न कर दिया।

वेदों में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की सुन्दरतम कल्पना है। व्यक्ति का विकास सामाजिक दायित्व को पूरा करने की प्रक्रिया में माना गया है। व्यक्ति के जीवन को **चार आश्रमों** में इसी दृष्टि से विभक्त किया गया है। प्रथम आश्रम

की कल्पना में व्यक्ति के विकास की पूरी संभावना है। शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्ति संगृहीत करने के लिये इस आश्रम में व्यक्ति समाज की पूरी सहायता और संरक्षण प्राप्त करता है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति पारिवारिक जीवन का दायित्व ग्रहण करता और इस सीमा में वह समाज के प्रति अपना दायित्व पारिवारिक दायित्वों को निभाते हुए ही पूरा कर सकता है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति पारिवारिक बन्धनों से मुक्त होकर पूर्ण सामाजिक दायित्व का वहन करता है। समाज के विकास के लिए वह हर सेवा के लिए प्रस्तुत रहता है। अन्त में संन्यास आश्रम में व्यक्ति अपनी निजी आध्यात्मिक उपलब्धियों की ओर प्रवृत्त होता है और समाज के आध्यात्मिक जीवन के उन्नयन का दायित्व वहन करता है। इस प्रकार वैदिक आश्रमों की कल्पना व्यक्ति और समाज के आन्तरिक सबन्धों की ऐसी व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति की उन्नति और समाज के विकास की पूरी संभावना रक्षित है। इसी प्रकार विभिन्न ऋणों की कल्पना में भी व्यक्ति और समाज के सन्तुलन का दृष्टिकोण सुरक्षित है। व्यक्ति अपने विकास में समाज से पाता है, अतः उसे समाज को चुकाना भी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति पर स्वस्थ वंश-परम्परा चलाने, ज्ञान की परम्परा को आगे बढ़ाने, प्राणिमात्र की सेवा और सहायता करने तथा आध्यात्मिक जीवन को अग्रसर करने का दायित्व है। इन दायित्वों को पूरा किए बिना कोई व्यक्ति मुक्त हो नहीं सकता।

वेदों में समत्व की भावना प्राणिमात्र की बराबरी में विकसित हुई है। नारियों को नरक का द्वार, माया, ज्ञान की अनधिकारिणी और ताड़ना की अधिकारिणी आदि पौराणिकों ने माना है। यह ह्रासोन्मुखी मध्ययुगीन समाज का लक्षण है, व्यक्तिपरक वैराग्यमूलक साधनाओं की दृष्टि से कहा गया है। वेदों में नारी को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, पुरुष के समकक्ष तो वे हैं ही। उनको वेदादि के ज्ञान प्राप्त करने का पुरुषों के समान ही अधिकार है। ज्ञानस्वरूप वेदज्ञान प्राप्त करने का अधिकार सबको प्रदान करते हैं। वेद में समाज और समत्व की परिव्याप्ति है। वहाँ व्यक्तिगत उन्नति, यहाँ तक कि आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग भी सामाजिक और नैतिक मूल्यों की उपलब्धि से होकर जाता है। व्यक्ति सामाजिक दायित्वों को पूरा करते हुए ही अपनी आत्मा के विकास में प्रवृत्त हो सकता है। इसी प्रकार वैदिक कर्मवाद शुद्धकर्म की प्रेरणा और कर्म के सत् और असत् विचार पर प्रतिष्ठित है। मनुष्य की मुक्ति सत्कर्मों पर निर्भर

है। कर्मों का परिणाम भोगना ही है, जन्मान्तर तक कर्म के इस बन्धन में जीव को रहना पड़ता है। आगे चलकर कर्म-फल का भावी-भवितव्यता आदि में पर्यवसान पुराणपंथियों के कारण हुआ। मध्ययुग में कर्म का बन्धन ढीला पड़ गया। ईश्वर के कृपालु, भक्त-वत्सल होने का अर्थ लगाया गया कि पापी से पापी व्यक्ति ईश्वर की शरण में चले जाने पर अपने कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। यह समाज की व्यवस्था और ईश्वरीय विधान की दृष्टि से घातक परिकल्पना है।

दयानन्द ने मध्ययुग के व्यक्तिपरक धर्म, दर्शन, साधना तथा अध्यात्म को पुनः वैदिक समाजपरक आधार पर प्रतिष्ठित किया। मध्ययुगीन अद्वैत तथा अद्वैत आधारित दर्शनों को अस्वीकार कर उन्होंने **वैदिक द्वैतवाद** की स्थापना की। एक परम ब्रह्म परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त, शाश्वत, अनादि, अनन्त सत्यस्वरूप है। वह समस्त मानवीय गुणों का, परम मूल्यों का चरमस्थल है- दया, न्याय और करुणा आदि का । वह हम जीवों का परमपिता है और पालन-पोषण-संरक्षण करने वाला है। वस्तुतः इस प्रकार की अवधारणा में व्यक्ति और समाज के सबन्धों का सुन्दर स्वरूप सुरक्षित है। इसी कारण दयानन्द ने ज्ञान और भक्ति के सूक्ष्म चिन्तन और अनुभव के स्तर पर विकसित होने वाले आत्मा तथा ब्रह्म के अद्वैतपरक भेदाभेद को महत्त्व नहीं दिया, वरन् उसे अस्वीकार किया है, क्योंकि इस प्रकार का दार्शनिक चिन्तन जिस प्रकार की आध्यात्मिक साधना को प्रेरित करता है, वह व्यक्ति-सापेक्ष और समाज-निरपेक्ष है। जैसा उल्लेख किया गया है, दयानन्द का दृष्टिकोण भारतीय समाज को स्वस्थ और सन्तुलित आधार प्रदान करना था। उनके मन में ऐसे समाज की परिकल्पना थी जो शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक क्षमता, बौद्धिक विवेक, नैतिक दायित्व भावना व सामाजिक समत्व भाव से समपन्न हो, इसीलिए उन्होंने मध्ययुगीन धर्म, साधना, दर्शन, समाजनीति, राजनीति तथा अर्थनीति का डटकर विरोध किया है। वे हर प्रकार की सामाजिक, धार्मिक तथा वैयक्तिक एकांगिता के विरोधी थे। पौराणिकों ने आध्यात्मिकता के नाम पर समस्त भारतीय समाज में भावावेशपूर्ण भक्ति, रहस्यमयी साधनाओं और जड़ मूर्तिपूजा का प्रचार किया था। समाज, जाति तथा राष्ट्र के राम तथा कृष्ण जैसे महान् नेताओं को **अवतार** मान कर उनके चारों ओर भक्ति और लीला का ऐसा वातावरण बनाया गया था, जो व्यक्ति को व्यापक सामाजिक मूल्यों तथा दायित्वों के प्रति

निरपेक्ष बनाता है। दयानन्द ने इस मध्ययुगीन वातावरण को छिन्न-भिन्न करके भारतीय जीवन को नयी प्राण-शक्ति और प्रेरणा प्रदान करने का अथक प्रयत्न किया।

स्वामी दयानन्द क्रान्तिकारी द्रष्टा थे। वे समन्वयवादी समाज-सुधारक नहीं थे। पुनरुत्थान काल के अन्य सभी नेताओं ने **समन्वय** का सहारा लिया है। उन्होंने भारतीय संस्कृति की विशेषता मानी है कि वह समन्वयशील है। इस दृष्टि से उन्होंने समपूर्ण भारतीय परम्परा को स्वीकार कर अपना समर्थन दिया है। ज्ञान से भक्ति का समन्वय, इनसे कर्म का समन्वय, वेदों से पुराणों तक का समन्वय, सभी विचार-धाराओं का समन्वय, सभी धर्मों का समन्वय, सभी सांस्कृतिक परम्पराओं का समन्वय, और अन्ततः पूर्व से पश्चिम का समन्वय... इस अध्यवसाय में उनका अधिकांश श्रम लगा। उनका विचार था कि इस प्रकार हम भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रख सकेंगे और पश्चिमी संस्कृति के आधार पर आधुनिक युग में विकास करने का मौका भी पा सकेंगे। परन्तु दयानन्द की क्रान्तिकारी दृष्टि में यह समन्वय सत्य को लेकर समझौता करने की मनोवृत्ति का परिचायक है और इस मनोवृत्ति से कोई भी समाज न गतिशील हो सकता है और न सर्जनात्मक ही। समन्वय यदि समझौता है, दो विचारों, मूल्यों अथवा परम्पराओं की मिलावट है, तो वह हेय ही नहीं, किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की व्यक्तित्वहीनता का परिचायक भी है। दो विचार, दो मत अथवा दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के लिए चुनौती रूप में उपस्थित होती हैं और इन चुनौतियों को स्वीकार करने की प्रक्रिया में उनमें नया संस्कार आता है, नई गति आती है और अन्ततः उनका नया सर्जनात्मक रूप व्यक्त होता है। यह एक स्वस्थ प्रक्रिया है। दयानन्द ने इसी स्तर पर और इसी रूप में चुनौतियों को स्वीकार किया है। निश्चय ही वेद उनके लिए आश्रय-स्थल रहे हैं, पर वेद के सत्य-ज्ञान की समस्त परिकल्पना उन्होंने भारतीय समाज की पुनर्रचना और गत्यात्मक क्षमता की दृष्टि से ही स्वीकार की।

उन्होंने स्पष्टतः अनुभव किया कि जब तक मध्ययुगीन मूल्यों, स्थापनाओं, मान्यताओं, जीवन-पद्धतियों और परम्पराओं का खुला विरोध नहीं किया जायगा और भारतीय समाज को इनकी कुंठाओं, जड़ताओं और स्वार्थपरताओं से पूर्णतः मुक्त नहीं किया जायगा, इस समाज के पुनर्जीवित होने और फिर से मौलिक सर्जनशीलता से गतिशील होने का कोई अवसर नहीं है। इसी कारण

उन्होंने इन सब पर कसकर प्रहार किया है और इसमें उन्होंने कभी किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं किया। इस क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ने अपने सत्य को लेकर किसी बड़ी से बड़ी शक्ति से भय, लोभ, आतंक वश कभी समझौता नहीं किया। उनका एक ही उत्तर था- *असत्य से समझौता करके सत्य का प्रकाश करना कभी संभव नहीं है।* वस्तुतः अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि से उन्होंने समझ लिया था कि विजड़ित और कुंठित परम्परा से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है उसको तोड़कर फेंक देना। स्वामी दयानन्द यह भी समझते थे कि कोई भी प्राचीन संस्कृति की परम्परा से जुड़ा हुआ समाज अपने अन्तर्वर्ती ऐतिहासिक-सांस्कृतिक व्यक्तित्व से नितान्त विच्छिन्न होकर गतिशील नहीं हो सकता, वह नये मूल्यों की उपलब्धि में सक्षम नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उन्होंने नई समाज-रचना के लिए, नये मानस के संघटन के लिए और नई सर्जन-क्षमता से सक्रिय होने के लिए भारतीय व्यक्तित्व को वैदिक संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित किया है। कुछ आधुनिकतावादी इसको 'प्राचीन के प्रति उन्मुखता' मानते हैं, अथवा 'पीछे वापस जाना' कहते हैं, परन्तु दयानन्द की क्रान्तिकारिता को देखते हुए यह कहना गलत है। उन्होंने वेदों के प्रामाण्य का आधार विवेक संगत ही ग्रहण किया है। वेद उनके लिए अपौरुषेय तथा परम सत्य-ज्ञान के स्रोत इसलिए नहीं है कि यह मात्र आस्था का विषय है, वरन् परम सत्य को विवेक ज्ञान तथा आत्म साक्षात्कार के स्तर पर ग्रहण किया जा सकता है। वेदों के स्वतःप्रमाण होने का भी यही अर्थ माना गया है कि उनमें जिस सत्य ज्ञान की अभिव्यक्ति है, वह सहज ही सबके लिए समान रूप से ग्राह्य है, वह सार्वभौम और सार्वकालिक है, उसके बारे में युग की मर्यादा के महत्त्व अथवा समाज की सापेक्षता के बन्धन की चर्चा नहीं की जा सकती।

ध्यान देने की बात है कि वैदिक संस्कृति की व्याख्या के माध्यम से स्वामी दयानन्द ने जिन मानव मूल्यों की स्थापना की है, वे भारतीय समाज की आधुनिक प्रगति तथा रचना दृष्टि के अनुकूल हैं। ऐसा लग सकता है कि आधुनिक समाज-रचना और उसकी प्रगति की समस्त दिशाओं तथा संभावनाओं को निरूपित, व्याख्यायित तथा प्रतिष्ठित करने वाले मूल्यों को वेदों में ढूँढने का प्रयत्न अतिवाद है। फैशनपरस्त आधुनिकतावादी दयानन्द पर इस प्रकार का आक्षेप लगाते रहे हैं कि उन्होंने वेदों में आज के वैज्ञानिक आविष्कारों को खोज निकालने की चेष्टा की है। यह इसी प्रकार का आक्षेप है,

जैसे तथाकथित विज्ञानवादी गाँधी पर आरोप लगाते हैं कि वे बेलगाड़ी के पक्षधर थे। **वस्तुतः दयानन्द ने सदा इस बात पर बल दिया है कि वेदों का दृष्टिकोण सत्य के वैज्ञानिक अन्वेषण का रहा है।** वेद-काल के मनीषियों ने भौतिक जीवन की उपेक्षा करके आध्यात्मिक जीवन के विकास पर कभी बल नहीं दिया था। उन्होंने भौतिक जीवन के सत्यों के अनुसन्धान में वैसी ही प्रवृत्ति दिखाई है, जैसी आत्मिक सत्यों के आत्मानुभव के स्तरों की खोज की। सत्य का यह समस्त अनुसन्धान ज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभव, विवेकशील चिन्तन और आत्म साक्षात्कार के आधार पर हुआ है, अतः वे इसे वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष जीवन के अनुभवों के आधार पर ज्ञान की खोज में प्रवृत्त होने के कारण इन मनीषियों ने अनेक भौतिक सत्यों की खोज भी की थी। परन्तु जहाँ तक आधुनिक विज्ञान का प्रश्न है, स्वामी दयानन्द का ध्यान उसकी ओर गया था और वे बहुत चाहते थे कि जर्मनी जाकर हमारे विद्यार्थी इस आधुनिक विज्ञान का समुचित अध्ययन करें और वापस आकर उसका प्रचार अपने देश में करें। उनके अनुसार इस आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में बिना अधिकार प्राप्त किये कोई देश या समाज आज उन्नति नहीं कर सकता।

वस्तुतः वैदिक संस्कृति में स्वस्थ और स्वच्छन्द जीवन के ऐसे मूल्यों की प्रतिष्ठा रही है, जो व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और परिवार, परिवार और समाज, व्यक्ति और राष्ट्र, व्यवहार और अध्यात्म, आत्मा और ब्रह्म के उचित सन्तुलन पर प्रतिष्ठित हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की पूरी संभावनाएँ समाज की व्यवस्था में समाहित रही हैं और समाज की गति तथा सर्जनशीलता को सुरक्षित रखने के लिए व्यक्ति दायित्व-बोध तथा आत्मानुशासन की प्रक्रिया से अपनी रचनात्मक क्षमता को समृद्ध बनाता रहा है। निश्चय ही संस्कृति की यह परिकल्पना भारतीय जीवन की नये स्तर पर संघटना तथा संरचना के लिए आकर्षक थी और इस भूमि पर भारतीय व्यक्तित्व को नये संदर्भों से जोड़ पाना अधिक उचित था। स्वामी दयानन्द के सामने यही संकल्प था कि भारतीय समाज अपनी तत्कालीन अधोगति से मुक्त होकर किसी प्रकार स्वस्थ होकर नई रचनात्मक क्षमता से गतिशील हो सके। उन्होंने स्पष्टतः इस समाज के पतन तथा ह्रास के कारणों को समझा और विवेचन किया। जैसा कहा गया कि मध्ययुगीन ब्राह्मणवाद, पुरोहितों-महन्तों का निहित स्वार्थ, पुराण-पंथ, धर्म और दर्शन की एकांगिता तथा आध्यात्मिक साधनाओं की व्यक्तिनिष्ठा

आदि कारणों का विवेचन करके दयानन्द ने इनका घोर विरोध किया। परन्तु भारतीय समाज के प्रचलित अंधविश्वासों, अन्यायों, रूढ़ियों, कुरीतियों तथा जड़ताओं के कारण पश्चिमी संस्कृति से आकर्षित नेताओं के समान उन्होंने समस्त भारतीयता अथवा भारतीय संस्कृति को उपेक्षणीय तथा अविकसित नहीं मान लिया। उन्होंने भारतीय संस्कृति के आदि स्रोत तक जाकर उसकी आन्तरिक शक्ति और ऊर्जा का अन्वेषण किया और फिर उन तत्त्वों के संयोजन के आधार पर भारतीय व्यक्तित्व को पुनः प्रतिष्ठित करने का अथक प्रयत्न किया। वस्तुतः दयानन्द आधुनिक भारत की समस्त अपेक्षाओं से भली भाँति परिचित थे और उनमें से प्रत्येक को सामने रखकर भारतीय समाज के पुनर्गठन का कार्य उन्होंने शुरू किया था।

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं ने, मुख्यतः गाँधी ने देश का आह्वान करते समय अपने समाज की जिन समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है और समाज के जिन क्षेत्रों में रचनात्मक कार्य के द्वारा गति प्रदान करने की चेष्टा की है, उन सभी समस्याओं को स्वामी दयानन्द ने बहुत बल देकर सामने रखा था और सभी क्षेत्रों में कार्य करना शुरू किया था। **एक भी ऐसी समस्या नहीं है, जिसकी ओर उन्होंने संकेत न किया हो और कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जिसे उन्होंने छोड़ा हो।** समाज के वर्ण-भेद, उनकी असमानता, उनमें छुआछूत, जन्म से वर्णों के विभाजन आदि के बारे में दयानन्द ने अपने प्रखर विचार रखे थे। उन्होंने इस प्रकार की असमानता को, छुआछूत को, जन्म से वर्ण के निर्धारण को धर्म-विरुद्ध और असत्य प्रतिपादित किया, परन्तु उन्होंने कर्म पर आश्रित वैदिक वर्ण-व्यवस्था की स्वीकृति दी है। हम आधुनिकता के समर्थक यह कह सकते हैं कि कर्म पर आश्रित वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर लेना एक प्रकार का समझौता है, क्योंकि इस प्रकार हम दूसरे मार्ग से पर परम्परित वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं, परन्तु स्थिति का यथार्थ-विवेचन करने से पता चलता है कि जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था को पूरी तरह अस्वीकार करने की घोषणा की है, उन्होंने अपने जीवन में अभी तक जातिवाद को बहुत महत्त्व दे रखा है। भारतीय राजनीति के विभिन्न स्तरों पर जातिवाद का कितना प्रभाव है, इससे यह प्रमाणित होता है। गाँधी ने सन्त भाव से निम्न जातियों को 'हरिजन' कहा, पर 'हरिजन' शब्द 'अछूत' के समान एक पर्याय मात्र बन कर रह गया। इसकी तुलना में दयानन्द की दृष्टि अधिक स्पष्ट थी।

पहले तो उन्होंनें कहा कि समाज के विविध अंग रूप उसके वर्णों में ऊँच-नीच का भाव ही अधर्म है, क्योंकि अंगों का ऊँचा-नीचा स्थान उनकी श्रेष्ठता का निर्धारक नहीं हो सकता। यह कहना नितान्त मूर्खता है कि पैरों से हाथ इसलिए श्रेष्ठ हैं, क्योंकि प्राणी के खड़े होने पर वे ऊपर स्थित होते हैं। समाज की व्यवस्था और सन्तुलन के लिए कार्यों का विभाजन किसी न किसी रूप में अनिवार्य है, पर कार्य के संपादन की क्षमता जन्मतः सिद्ध नहीं हो सकती, अतः वर्ण का जन्म से कोई समबन्ध नहीं है। इस प्रकार के तर्क और व्यवस्था में कितना बल है, यह स्पष्ट है। साथ ही दयानन्द ने वर्ण-व्यवस्था के नाम पर जो सामाजिक अन्याय हो रहा था, उसका बड़ा विरोध किया था और इस विद्रोह भाव को समाज की नई रचना में समाहित करने का प्रयत्न भी किया था। बाद के समन्वयवादियों के दृष्टिकोण से उनका विचार कहीं अधिक क्रान्तिकारी रहा है। यह अलग बात है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रयोग से जिस प्रकार की औद्योगिक और यांत्रिक प्रगति हो रही है, उसमें समाज-रचना का स्वरूप ऐसा बदल रहा है, जिसमें पिछली कर्माश्रित वर्ण-व्यवस्था असंगत हो गई है।

स्वामी दयानन्द ने सत्य धर्म एक ही माना है और उनकी दृष्टि में वह धर्म वही हो सकता है जो श्रेष्ठ मानव मूल्यों की रचनात्मक प्रक्रिया को गतिशील रखने में सक्षम हो सके। **बाद के समन्वयवादियों और अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों ने दयानन्द को कट्टर पंथी और खण्डन-मण्डन करने वाले सुधारक के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि उनके जैसा उदार मानवतावादी नेता दूसरा नहीं रहा है।** उन्होंने धर्म की सदा भारतीय व्यापक परिकल्पना सामने रखी है। वे धार्मिक सम्प्रदायों को अस्वीकार कर शुद्ध मानव मूल्यों पर प्रतिष्ठित धर्म को स्वीकार करने के पक्ष में रहे हैं। सन्तों का दृष्टिकोण मुख्यतः आध्यात्मिक जीवन तक सीमित था, जब कि दयानन्द के सामने भारतीय जन-समाज के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य था। **उन्होंने धर्म के निरर्थक कर्मकाण्डों के नाम पर चलाई गई कुरीतियों, अन्धविश्वासों, जड़-पूजाओं और मान्यताओं का घोर विरोध किया है। उन्होंने वस्तुतः जब कभी हिन्दू, मुसलमान या ईसाई धर्म का खण्डन किया है तो स्पष्टतः उन्होंने असत्य, अन्धविश्वास और जड़मान्यताओं का उल्लेख किया है** और यह भी उन्होंने बार-बार घोषित किया है कि सभी धर्मों के मूल में शुद्ध मानव धर्म के तत्त्व विद्यमान हैं। यहाँ तक कि उन्होंने कई अन्य धर्म के नेताओं से प्रस्ताव भी किया

कि संमिलित रूप से धर्म के मूलतत्त्वों पर विचार करके उन्हें निर्धारित कर लिया जाय और फिर सभी धर्म के नेता उन्हें स्वीकार करके उनका प्रचार-प्रसार करें। उनके मन में धर्म को लेकर कभी कोई दुराग्रह या पक्षपात नहीं रहा, उन्होंने सदा धर्म के श्रेष्ठ तत्त्वों पर ही बल दिया है। एक तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है। दयानन्द की प्रमुख चिन्ता भारतीय समाज के पुनरुद्धार की थी। उनके मन में उस समाज की अवस्था से अत्यन्त व्यथा थी। वे उसमें प्रचलित अन्धविश्वास, अन्याय, शोषण तथा नृशंसताओं से मर्माहत हो गये थे। क्रमशः उनको बोध हुआ था कि इस समाज की सदा से ऐसी अवस्था नहीं रही है। एक समय यह समाज मानव मूल्यों का वाहक रहा है, अतः उनका पहला संकल्प भारतीय व्यापक हिन्दू जन-समाज के उद्धार का था और उसके लिए उन्होंने हिन्दू धर्म की जड़ताओं पर सर्वाधिक प्रहार किया है। उनका विश्वास था कि इस आघात के बिना असत्य के मार्ग पर चलने वाले हिन्दू समाज के उद्धार का कोई उपाय नहीं है। **उनका सबसे बड़ा विरोध पौराणिकों, ब्राह्मण-पुरोहितों और आडम्बर फैलाकर जनता को गुमराह करने वाले संन्यासियों से था और दयानन्द के विरुद्ध यह निहित स्वार्थों का वर्ग ही सदा रहा। वस्तुतः इस्लाम और ईसाई धर्म की आलोचना उन्होंने प्रासंगिक रूप में की है, क्योंकि हिन्दू धर्म के अन्धविश्वास आदि की आलोचना करके ये धर्मावलंबी हिन्दुओं को मत-परिवर्तन के लिए प्रेरित करते थे, इस कारण दयानन्द ने यह प्रतिपादित किया है कि इन सभी धर्मों में भी हिन्दू-धर्म के समान अन्धविश्वास और जड़ताएँ प्रचलित हैं।**

उनका धार्मिक उद्देश्य बहुत ऊँचा था। वस्तुतः उन्होंने संसार के सामने दो महत्त्वपूर्ण बातें रखी थीं। एक तो उन्होंने प्रतिपादित किया कि मूल सत्य तथा मानवीय मूल्यों की सर्जनशीलता से प्रेरित एक ही धर्म है। यह धर्म तत्त्व (अथवा ये तत्त्व) संसार के सभी श्रेष्ठ धर्मों के मूल में निहित है। यह धर्मों की साम्प्रदायिकता है जो उन्हें अलग रूपों में प्रकट करती है। इसके साथ अनेक निहित स्वार्थ जुट जाते हैं और धर्म में अन्धविश्वासों तथा जड़ताओं का आश्रय लेकर असत्य का प्रवेश होता है। उन्होंने इसीलिए बार-बार प्रस्ताव किया कि सभी धर्म के लोग शुद्ध मानवीय धर्म का पालन कर सकते हैं, क्योंकि किसी धर्म का इससे विरोध नहीं हो सकता है और स्थान-स्थान पर यह स्वीकार किया है कि कोई भी धर्मावलम्बी **आर्य-धर्म** अर्थात् श्रेष्ठ मानव धर्म का पालन

कर सकता है। वस्तुतः उनके लिए 'आर्य' शब्द किसी साम्प्रदायिक धर्म का पर्याय कभी नहीं बना, यह उनके द्वारा 'आर्यसमाज' की स्थापना से भी सिद्ध है। 'आर्य समाज' कभी किसी धर्म का रूप नहीं ले सका, यह उनकी इच्छा और विश्वास का ही परिणाम था। आज कल भारतीय राजनीति में धर्मनिरपेक्षता की चर्चा काफी होती है, परन्तु उसकी विडम्बना भी स्पष्ट है। स्वामी दयानन्द ने मानव मूल्यों पर प्रतिष्ठित धर्म की जो व्यापक तथा सर्जनशील व्याख्या की थी, वह आज के भारत में अनेक धर्मों के स्वस्थ, सहज और रचनात्मक समन्वय की उचित भूमिका है।

स्वामी दयानन्द ने समाज में स्त्री के स्थान पर विशेष ध्यान दिया था। वे पुरुष के साथ नारी की समानता का पूर्ण समर्थन करते हैं। भारतीय समाज की हीनावस्था का एक महत्त्वपूर्ण कारण उनके अनुसार यह भी है कि इस समाज में नारी का संम्मानपूर्ण स्थान नहीं रह गया है। वे नारी और पुरुष के अधिकारों की पूर्ण समानता स्वीकार करते हैं, पर दोनों के कार्य-क्षेत्र का विभाजन मानते हैं। आज के बदलते हुए समाज में स्त्री-पुरुष के कार्य-क्षेत्रों का अलगाव संभव नहीं रह गया है, परन्तु इससे दयानन्द के विचारों को संकुचित नहीं माना जा सकता और न उनकी क्रान्तिकारिता पर प्रश्न किया जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार जो समाज आज बनता जा रहा है, वह अपने आप में परिस्थिति की उपज है, उसे आदर्श समाज कहना विवादास्पद है। स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या-उद्धार आदि अनेक समस्याओं को दयानन्द ने अपने युग के सन्दर्भ में उठाया था और उनका उचित समाधान प्रस्तुत किया था। आज ये प्रश्न हमारे लिए अमहत्त्वपूर्ण हो गये हैं, परन्तु जिस साहस और दृढ़ता के साथ उन्होंने इन समस्याओं का समाधान समाज के सामने रखा था, उससे उनके व्यक्तित्व की क्रान्तिकारिता लक्षित होती है और उनका **द्रष्टा रूप** भी सामने आता है।

एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है जो स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व को सूक्ष्मता से उद्घाटित करता है। उन्होंने धर्म को मूल्य के स्तर पर ग्रहण किया है, उससे साम्प्रदायिक व्यवस्था और कर्मकाण्डी पक्ष को बिल्कुल अलग कर दिया है, अतः धर्म संस्कृति के उच्चतम मूल्यों के स्तर को स्थापित करता है। जिस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्तरों के मूल्यों का संचरण होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म स्तर पर धार्मिक, कलात्मक तथा

आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि का क्षेत्र भी संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति मानवीय मूल्यों की सर्जनशीलता की दृष्टि से अधिक व्यापक है। दयानन्द का सारा प्रयत्न इस प्रकार सांस्कृतिक पुनरुत्थान से सम्बन्धित है। उनके लिए धर्म उसी सीमा तक महत्त्वपूर्ण है, जहाँ तक वह सांस्कृतिक मूल्यों के क्षेत्र में एक भूमिका प्रस्तुत करता है। यही कारण हे कि उनके दृष्टिकोण में संस्कृति के सभी स्तरों का समाहार है और उन्होंने भारतीय जीवन के सभी पक्षों तथा स्तरों के मूल्यों का इस प्रकार निरूपण किया है, जिससे उसका एक व्यापक तथा संश्लिष्ट सांस्कृतिक स्वरूप लक्षित होता है। इसके अन्तर्गत सामाजिक आचार, नैतिक आदर्श, व्यक्तित्व की स्वाधीनता और प्रतिष्ठा, लोकजीवन में समत्व, राजनीतिक आदर्श व्यवस्था, राजतंत्र की लोकसत्तात्मक तथा समत्वमूलक परिभाषा, लोकोन्मुखी तथा साम्यवादी अर्थतंत्र आदि के समस्त मूल्यों का प्रतिष्ठान वेदों को अवश्य माना तथा प्रमाणित किया है, परन्तु इनकी व्याख्या आधुनिक जीवन के अनुरूप की गई है। साथ ही द्रष्टा के रूप में दयानन्द ने इन समस्त मूल्यों को संस्कृति के मर्म तथा अध्यात्म समबन्धी उच्च भूमियों पर प्रतिष्ठित कर तत्संबन्धी उच्च मूल्यों में उनका संक्रमण किया है। गाँधी ने अपने सत्य और अहिंसा जैसे मूल्यों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक मूल्य-दृष्टियों का समाहार किया है और भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी एकांगी संस्कृतियों की तुलना में गाँधी के सांस्कृतिक संतुलन को बहुत महत्त्व मिला है, पर यहाँ ध्यान देने की बात है कि दयानन्द ने लौकिक तथा आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों के पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध को जितनी स्पष्टता के साथ प्रतिपादित और विवेचित किया है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। वस्तुतः जीवन्त, सप्राण, गतिशील तथा सर्जनात्मक संस्कृति में इन दोनों पक्षों का समाहार और उनके मूल्यों का अन्तः संक्रमण अनिवार्य है। स्वामी दयानन्द ने संस्कृति के इसी रूप की परिकल्पना की है और उनकी दृष्टि में यही भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप है। उनकी संस्कृति सम्बन्धी अवधारणा के आधार पर समाज के भारतीयकरण के प्रश्न का समुचित उत्तर दिया जा सकता है।

स्वामी दयानन्द आधुनिक युग में ऋषि और द्रष्टा माने जायँगे। उनमें जितनी गहरी यथार्थ की पकड़ थी, उतनी ही व्यापक इतिहास और परम्परा को ग्रहण करने की क्षमता भी। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने समाज की प्रक्रिया को तथा उसके भविष्य की संभावनाओं को पहचाना और फिर उसको एक

स्वस्थ और सर्जनशील समाज-रचना की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया। कोई भी परिकल्पना युग के साथ, परिस्थितियों के सन्दर्भ में परिवर्तित होती है। इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द की भारतीय समाज की नयी रचना की परिकल्पना में भी आज अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है, पर उनका भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति का निदान आज भी उतना ही सटीक है। उनकी समाज-रचना की परिकल्पना भी बहुत कुछ आज स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि उनकी सांस्कृतिक मूल्यों की अवधारणा मानव धर्म की व्यापक प्रतिष्ठा तथा सर्जनशीलता से सम्बन्धित है। परन्तु इन से भी अधिक महत्त्व की बात है उनके व्यक्तित्व की क्रान्तिकारिता, जो असत्य और अन्याय के सम्मुख अडिग खड़े होने की क्षमता प्रदान करती है और जिसके कारण उन्होंने कभी विश्व में समझौता नहीं किया। आज यह स्पष्ट हो गया है कि समस्त देशी-विदेशी पुराण-पंथ के विरुद्ध सतत विद्रोह करने के लिए ऐसे क्रान्तिकारी व्यक्तित्व की देश को सर्वाधिक आवश्यकता है। इसके बिना देश का कोई भविष्य नहीं है।

- इलाहाबाद विश्वविद्यालय

॥ ओ३म् ॥